



□ मालव केसरी सौभाग्यमल जी महाराज

[प्रसिद्ध वक्ता, स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के वरिष्ठ मुनि]

जैन आचारसंहिता

□

जीवमात्र का एक ही लक्ष्य है दुःख से मुक्त होना, सुख एवं शान्ति को प्राप्त करना । इसीलिए प्रत्येक विचारक, चिन्तक ने जीव और जगत का चिन्तन करते हुए दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के उपायों पर विचार किया है । यह बात तो सभी विवेकशील व्यक्तियों ने सिद्धान्तः स्वीकार की है कि कर्म से आवद्ध जीव इस जगत में परिभ्रमण करता है और विभिन्न योनियों में अनेक प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव करते हुए भी दुःखों से छुटकारा पाने का सतत प्रयास करता है । दुःखों से छुटकारा यानी कर्मबन्ध से मुक्ति, अनन्त सुख, शाश्वत आनन्द एवं परम शान्ति की प्राप्ति ।

प्रत्येक दर्शन एवं धर्म के शास्त्रों एवं ग्रन्थों में चिन्तन के आधार पर बन्धन से मुक्त होने का रास्ता बतलाया है । इस कथन का एक ही उद्देश्य रहा है कि व्यक्ति जीवन के स्वरूप को समझे, बन्ध और मुक्ति के कारणों का परिज्ञान करे और तदनन्तर साधना के द्वारा अपने साध्य— लक्ष्य को प्राप्त करे । परन्तु विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से साधना का मार्ग बतलाया है । इसीलिए साधना-पद्धतियों में विभिन्नता परिलक्षित होती है और यह स्वाभाविक भी है ।

भारतीय चिन्तन अध्यात्मपरक है । उसमें प्रत्येक प्रवृत्ति को आध्यात्मिक विकास के साथ सम्बद्ध किया गया है कि आत्मा को इससे क्या हानि-लाभ होगा । इसीलिए भारतीय चिन्तन में मुक्ति के दो मार्ग बतलाये गये हैं—ज्ञान और क्रिया अथवा विचार और आचार । कुछ विचारकों ने ज्ञान को प्रमुखता दी और कुछ ने क्रिया को, आचार को ही सब कुछ स्वीकार किया । अद्वैतवादी शंकराचार्य की मान्यता है कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कर लेना ही मुक्ति का मार्ग है । जब तक व्यक्ति अविद्या—अज्ञान के बन्धन में जकड़ा रहेगा, तब तक मुक्त नहीं हो सकेगा । इसके विपरीत मीमांसादर्शन का कथन है कि मुक्तिप्राप्ति के लिए सिर्फ ब्रह्म का जानना ही काफी नहीं है किन्तु वेदविदित यज्ञयागादि करना चाहिए । क्योंकि विचारों की काल्पनिक उड़ान से प्राप्ति नहीं होती है, आचार के द्वारा ही लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार एक ओर ज्ञान को श्रेष्ठ मानकर आचार की उपेक्षा की गई तो दूसरी ओर क्रियाकाण्ड को प्रमुख मान कर ज्ञान का तिरस्कार किया गया है । दोनों दर्शनों ने इसके लिए अपनी-अपनी युक्तियाँ दी हैं ।

जैनदर्शन की दृष्टि

लेकिन जैनदर्शन में ऐसे दुविधा पूर्ण परस्पर विरोधी दृष्टिकोण को कोई स्थान नहीं दिया है । न तो यह माना है कि ज्ञान ही श्रेष्ठ है और क्रिया अथवा आचार का कोई मूल्य नहीं है और

न यह प्रतिपादित किया है कि आचार के सामने विचार-ज्ञान का महत्त्व नहीं है। भगवान महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की कि—मुक्ति के लिए ज्ञान और क्रिया—विचार और आचार दोनों आवश्यक हैं।^१ विचार का महत्त्व, उपयोगिता आचार द्वारा प्रगट होती है और आचार में ओज ज्ञान-विचार द्वारा प्राप्त होता है। विचार के आधार हैं—सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान तथा आचार की भूमिका है—सम्यक् चारित्र्य यानी जो दर्शन और ज्ञान से जाना, समझा, अनुभूति की उसे आचरण के द्वारा मूर्त रूप देना। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के समन्वित रूप द्वारा साधक बन्धन से पूर्ण मुक्त हो सकता है। ज्ञान जब तक विचार-चिन्तन तक सीमित रहता है, तब तक साधक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता है और क्रिया—आचार का बिना ज्ञान के पालन हो तो लक्ष्य को नहीं देख पाता है, इधर-उधर उलझ जाता है। अतः जब ज्ञान आचार में उतरता है और आचार ज्ञान की दृष्टि लेकर गति करता है तब साधक को साध्यसिद्धि में सफलता प्राप्त होती है।

आचार का स्वरूप

जब यह निश्चित है कि साध्य-प्राप्ति के लिए ज्ञान और क्रिया मुख्य साधन हैं तब उनके स्वरूप को समझना आवश्यक है। ज्ञान का अर्थ है—वस्तु स्वरूप को देखना, जानना, समझना और उसका चिन्तन-मनन करना। ज्ञान की प्रवृत्ति द्विमुखी है, उससे स्व का भी ज्ञान होता है और पर-स्वरूपावबोध होता है। यानी ज्ञान का अर्थ हुआ आत्मा का बोध रूप व्यापार और उस ज्ञान को आचरण में उतारने एवं व्यवहार में लाने की प्रक्रिया को आचार कहते हैं। जो कुछ जाना और समझा उसी के अनुरूप व्यवहार करना अथवा उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना आचार है। निश्चय दृष्टि से आचार का अर्थ होगा 'स्व' के द्वारा 'स्व' और 'पर स्वरूप' का यथार्थ बोध करके 'पर' से मुक्त होकर 'स्व' में स्थित हो जाना। यानी विचार के अनुरूप हो जाना। इस स्थिति में विचार और आचार में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता है।

आचार के भेद

आगमों में आचार के विभिन्न दृष्टियों से अनेक भेद किये गये हैं, जैसे श्रुतधर्म और चारित्र्यधर्म। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य तथा ज्ञान-आचार, दर्शन-आचार, चारित्र्य-आचार, तप-आचार, वीर्य-आचार। इन दो, तीन अथवा पाँच भेदों में संख्या भेद अवश्य है लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। विभिन्न प्रकार से समझाने के लिए भेद की कल्पना की गई है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और ज्ञान श्रुतधर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं और सम्यक् चारित्र्य चारित्र्यधर्म है ही। इसी प्रकार जो पाँच भेद किए गये हैं, उनमें प्रथम दो का ज्ञान में और अन्तिम तीन का चारित्र्य में समाहार हो जाता है। क्योंकि तप और वीर्य दोनों चारित्र्य साधना के ही अंग हैं। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में सभी भेदों को गर्भित किया जा सकता है। जैनधर्म में जिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य कहा है उसे गीता में भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग कहा गया है।^२ क्योंकि भक्ति के मूल में श्रद्धा रहती है, श्रद्धा के अभाव में भक्ति सम्भव ही नहीं है। ज्ञान ज्ञान है ही और कर्म का अर्थ क्रिया करना-आचरण करना। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग जैनधर्म के दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के दूसरे नाम कहे जा सकते हैं।

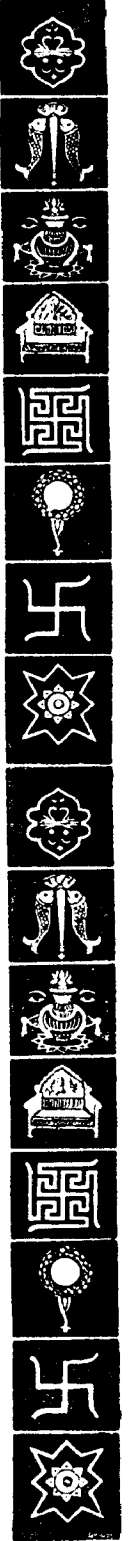
१ नाणकिरियाहि मोक्खो।

२ श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।

श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होने पर ही इन्द्रिय-संयम (सदाचार) सघता है।

—गीता ४/३६

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरौ अन्धे श्रीआनन्दरौ अन्धे



परन्तु गीता और जैन परम्परा की मान्यता में एक मौलिक अन्तर है। गीता के अनुसार साधक किसी एक योग की साधना द्वारा साध्य को प्राप्त कर सकता है जबकि जैन परम्परा में भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों योगों की समन्वित साधना द्वारा साध्य प्राप्ति मानी गई है। क्योंकि 'स्व' पर विश्वास करना श्रद्धा (दर्शन) है, स्व को जानना ज्ञान है और स्व में स्थिर होना चारित्र्य है और इन तीनों की एकरूपता मोक्षमार्ग—दुःखमुक्ति का उपाय है।

आचार भी दर्शन है

आचार सिर्फ क्रिया या प्रवृत्ति ही नहीं, किन्तु एक दर्शन भी है। उसकी तात्विक एवं सैद्धांतिक दृष्टि है। वही आचार आचरण करने योग्य होता है जो चरम सत्य को केन्द्रबिन्दु मानकर चलता है। जब सत्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति की जाती है, तब दर्शन-चिन्तन और आचार एक दूसरे से तन्मय बन जाते हैं कि उनमें भेद नहीं होता है। एक दूसरे दूध और मक्खन के समान एकाकार हो जाते हैं। शाब्दिक भेद से भले ही हम ज्ञान-क्रिया, विचार-आचार आदि पृथक्-पृथक् कह सकते हैं लेकिन तिल और तेल की तरह दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं।

आचारांग सूत्र आचार की व्याख्या करता है और व्याख्या के लिए सर्वप्रथम सूत्र में कहा है कि 'जिसको अपने स्वरूप का, अपने त्रिकालवर्ती अस्तित्व का, संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण के कारण का, पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में से किस दिशा से आने और किस दिशा में जाने आदि का ज्ञान हो गया है, वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है।' इसका सारांश यह है कि जिस जीव को अपने त्रिकालवर्ती अस्तित्व का बोध नहीं है उसे न तो संसार का ज्ञान होगा और न ही बंध-मोक्ष के कारणों को जान सकेगा। इस स्थिति में वह किसे तो छोड़ेगा और किसे ग्रहण करेगा। वहाँ त्यागने और ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। लेकिन जिसे 'स्व-पर' का ज्ञान है, वह किसी वस्तु को छोड़ता नहीं किन्तु वस्तु स्वयं छूट जाती है। यही आचार का दार्शनिक रूप है।

भगवती सूत्र में गौतम गणधर के एक प्रश्न का उल्लेख है कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि का त्याग-प्रत्याख्यान करने वाले व्यक्ति का त्याग सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है। इसका समाधान करते हुए भगवान महावीर ने फरमाया है कि जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है, जीव क्या है, अजीव आदि का ज्ञान है, उसका त्याग—प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। इसके सिवाय अन्य सब त्याग-प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है।^१ इस कथन का सारांश यह है कि त्याग-विराग की सम्यक्ता का आधार 'स्व' स्वरूप का बोध है। स्व-स्वरूप के बोध के साथ जो भी स्थूल प्रवृत्ति होगी वह सब स्वरूप बोध का ही एक पहलू है। अतः आचार दर्शन का मूल उद्देश्य है समत्वयोग की साधना—आत्मा का आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाना, स्व को इतना व्यापक बना देना कि पर कुछ भी न रह जाये अथवा पर को इतना अस्तित्व हीन कर लिया जाए कि पर का नामावशेष हो जाये। जब यह स्थिति बन जाएगी तब साधक अपने साध्य की सिद्धि कर लेता है।

आचार का व्यावहारिक दृष्टिकोण

ऊपर आचार की तात्विक भूमिका का संकेत किया गया है। लेकिन जब तक साधक साध्य की सिद्धि नहीं कर लेता है, तब तक लक्ष्य के उच्च होने पर भी, उसे जीवन व्यवहार चलाना ही पड़ता है। केवलज्ञान प्राप्त दशा में भी केवलज्ञानी अपनी शारीरिक प्रवृत्तियों में, व्यावहारिक

१. आचारांग १/१/१

२. भगवती सूत्र ७/३२

प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं करते हैं। निरावरण ज्ञान होने पर भी रात्रि में आहार नहीं लेते हैं, रात्रि में गमनागमन की क्रियाओं को नहीं करते हैं। इसीलिए आगम में कहा गया है कि साधना में केवल निश्चय नहीं व्यवहार भी आवश्यक है। अध्यात्म का मुख्य रूप से कथन करने वाले उपनिषदों में भी व्यवहार को उपेक्षणीय नहीं बताया है और कहा है कि कर्मों (व्यवहारों) की उपेक्षा करके ज्ञान सम्भव नहीं है। आचार से शून्य होकर कोई भी व्यक्ति ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकता है।

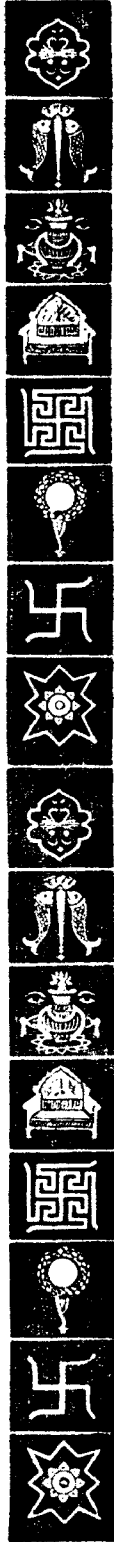
जैन परम्परा का दृष्टिकोण पहले बताया ही जा चुका है कि आचार उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान। आगम में कहा गया है कि चलने, उठने, बैठने, खाने-पीने की क्रिया जो करो, वह यत्न एवं विवेक पूर्वक करो। यत्नपूर्वक कार्य करने से पापबन्ध नहीं होगा। इसका अभिप्राय यह कि बन्ध तभी होता है जब क्रिया में राग-द्वेष होता है, आसक्ति होती है। आगमों में आचार का व्यावहारिक दृष्टिकोण यह है कि संयम से रहो, जितना सम्भव हो सके अपने आपकी प्रवृत्ति को संकुचित बनाओ, आवश्यकता पड़ने पर कार्य किया जाये, निष्प्रयोजन इधर-उधर भटकना नहीं चाहिए। इसके लिये ईर्ष्यासमिति आदि पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान किया गया है। इन समिति और गुप्ति का आशय यह है कि आवश्यकता होने पर विवेकपूर्वक गति की जाये, भोजन की गवेषणा (मिश्राचारी) की जाये, वस्त्र पात्र आदि ग्रहण किये जायें, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का गोपन किया जाये। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि महाव्रत, तप एवं इनकी सुरक्षा तथा अभ्यास के लिए अनेक नियमोपनियम बताये गये हैं। यह सब आचार का व्यावहारिक पक्ष है। इन सब का लक्ष्य यह है कि बाहर से हटकर, विभाव से हटकर अन्तर में, स्वभाव में आना, स्व-स्वरूप में रमण करना। इसके लिए जो भी क्रिया सहायक बनती है, वह सम्यक् है, उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण से और तात्त्विक दृष्टि से चारित्र्य—आचार माना जायेगा और वही सम्यक् है।

जैन परम्परा में आचार को मात्र क्रियाकाण्ड या प्रदर्शन न मानकर आत्म-विकास का दर्शन कहा है और अपेक्षा भेद से उसके भेद करते हुए भी उन सब में आत्म-दर्शन, ज्ञान और रमणता को मुख्य माना है।

पात्र की अपेक्षा आचार के भेद

जैन आगमों में आचार का महत्त्व बतलाने के लिए उसे धर्म कहा है—‘चारित्तं धम्मो’—अर्थात् चारित्र्य ही धर्म है। और चारित्र्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है—“असुहादो विणवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं” अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना चारित्र्य कहलाता है। अशुभ में प्रवृत्ति के कारण हैं—राग-द्वेष। जब तक राग-द्वेष की परम्परा चलती रहती है तब तक शुभ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैन-धर्म में राग-द्वेष प्रवृत्तियों के निवारणार्थ आचार को दो भागों में विभाजित किया है—साधु-आचार और श्रावकाचार। साधु-आचार साक्षात् मोक्ष का मार्ग है और श्रावकाचार परम्परा से मोक्ष का कारण है। साधु का एक मात्र लक्ष्य आत्मोद्धार करना है। वह लोक, कुटुम्ब आदि पर पदार्थों से ही नहीं, लेकिन अपनी साधना में सहायक शरीर से भी निस्पृह होकर साधना में लग जाता है। साधु ही अहिंसा का उत्कृष्टतया पालन कर सकता है श्रावक नहीं। क्योंकि साधु प्राणिमात्र से मैत्री भाव रखकर निरंतर रागद्वेषमयी प्रवृत्तियों के उन्मूलन में तत्पर रहता है। ज्ञान, ध्यान, तप आदि में अहनिश रत रह कर उत्तरोत्तर रत्नत्रय प्राप्ति के लिए सजग रहता है और आत्मा में विद्यमान अप्रकट अनन्त शक्तियों का विकास करना ही साधु का एकमात्र लक्ष्य होता है। संक्षेप में साधु आचार व्यक्ति को वीतरागी बनाने एवं प्राकृतिक जीवन जीने के लिए स्वावलम्बी बनने की प्रवृत्ति है।

आचार्यप्रवचन अभिनन्दने श्रीआनन्दरत्ने अन्धदुःखश्रीआनन्दरत्ने अन्धदुःख



लेकिन सभी साधुपद की मर्यादा का निर्वाह करने में सक्षम नहीं होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी मानसिक, शारीरिक योग्यता होती है। अतएव जो व्यक्ति साधु-आचार का पालन करने में तो पूर्णतया समर्थ नहीं हैं लेकिन उस आचार को ही आत्मकल्याण का साधक मानते हैं, उसमें रुचि भी रखते हैं और साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं, उनकी सुविधा एवं अभ्यास के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार साधना की प्रारम्भिक भूमिका के रूप में श्रावकाचार के सरल नियम निर्धारित किये हैं। ताकि अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः अपने प्रमुख लक्ष्य को पा सकें। इस अभ्यास की प्रारम्भिक इकाई हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का आंशिक त्याग करना। आंशिक त्याग के अनुरूप इन्द्रियों का व्यापार किया जाना और पारिवारिक जीवन में रहते हुए साम्यभाव में वृद्धि करते जाना।

इस प्रकार से जैनधर्म में आचार का उद्देश्य एक होते हुए भी व्यक्ति की योग्यता को ध्यान में रखते हुए साधु-आचार और श्रावकाचार यह दो भेद किए गये हैं। दोनों प्रकारों में एक ही भावना व्याप्त है—

नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेणं तवेण य ।

खंतीए मुत्तीए वड्डमाणो भवाहि य ॥

—उत्तरा० २२/२६

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा और निर्लोभता की दिशा में निरंतर बढ़ते रहो। अथवा इन ज्ञानादि के अभ्यास द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया जाये।

जैनधर्म में पात्रता को ध्यान में रखते हुए आचार धर्म के भेद अवश्य किए हैं, लेकिन इसका कारण जाति, वर्ण, लिंग, वेष आदि नहीं है, किन्तु व्यक्ति का आत्मबल या मनोबल ही उस भेद का कारण है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश, काल आदि का हो, किसी जाति, वर्ण का हो, स्त्री हो या पुरुष, समान रूप से धर्मसाधना कर सकता है। सभी प्रकार के साधकों का वर्गीकरण करने के लिए १. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक और ४. श्राविका यह चार श्रेणियां बतलाई हैं। इनमें साधु और साध्वी का आचार प्रायः एक-सा है और श्रावक व श्राविका का आचार एकसा है।

उक्त श्रेणियों में साधु और श्रावक के लिए आचार नियम पृथक्-पृथक् बतलाये हैं। साधु-आचार को महाव्रत और श्रावक-आचार को अणुव्रत कहते हैं। इन दोनों आचारों में पहले साधु-आचार का और बाद में श्रावकाचार का वर्णन यहाँ करते हैं।

साधु-आचार

विश्व के सभी धर्मों और चिन्तकों ने त्याग को प्रधानता दी है। जैन संस्कृति ने त्याग की जो मर्यादायें और योग्यताएँ स्थापित की हैं, वे असाधारण हैं। वैदिक संस्कृति के समान जैनधर्म ने त्याग जीवन को अंगीकार करने के लिए वय, वर्ण आदि को मुख्य नहीं माना है। उसका तो एक ही स्वर है कि यह जीवन क्षणभंगुर है, मृत्यु किसी भी समय जीवन का अन्त कर सकती है। अतएव इस जीवन से जो कुछ लाभ प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त कर लेना चाहिए।

वय पर जोर न देते हुए भी जैन शास्त्रों में त्यागमय जीवन अंगीकार करने वाले की योग्यता का अवश्य संकेत किया है कि जिसे तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो गई है, आत्मा-अनात्मा का भेद समझ लिया है, संसार, इन्द्रिय, विषय-भोगों का स्वरूप जान लिया है और वैराग्य भावना जाग्रत हो गई है, वह व्यक्ति त्यागी-साधु बनने के योग्य है। संसार, शरीर, भोगों से ममत्व का त्याग करके जो आत्मसाधना में संलग्न रहना चाहता है, वह साधु आचार को अंगीकार कर सकता है।

साधु की साधना स्वयं में स्व को प्राप्त करने के लिए होती है, तभी आत्मा की सर्वोच्च सिद्धि मिलती है। इस भूमिका को प्राप्त करने के लिए घर-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों

का त्याग तो करना ही पड़ता है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं, साधुता में तेज तभी आता है जब अन्तर् में जड़ जमाये हुए विकारों पर विजय पा ली जाती है। मान-अपमान, निन्दास्तुति, जीवन-मरण में भेद नहीं माना जाता है।^१ तिरस्कार को भी अमृत मानकर पान किया जाता है और स्वयं कटुवचन बोलकर दूसरे का तिरस्कार नहीं किया जाता है। पृथ्वी के समान बनकर सब अच्छा-बुरा, हानि-लाभ आदि सहन किया जाता है।^२

आत्मसाधना करते हुए भी साधु संसार की भलाई से विमुख नहीं होता है। वह तो आध्यात्मिकता की अखण्ड ज्योति लेकर विश्व मानव को सन्मार्ग का दर्शन कराता है। उसे अपने दुःख, पीड़ा, वेदना का तो अनुभव नहीं होता लेकिन परपीड़ा उसके लिए असह्य हो जाती है। वह भलाई करते हुए भी अहंकार नहीं करता है कि मैंने अमुक कार्य करके दूसरों का भला किया है। किन्तु सोचता है कि अपनी भलाई के लिए मेरे द्वारा दूसरे का भी भला हो गया है। इस प्रकार की साधना द्वारा साधु अपने जन्म-मरण का अन्त करता है और सिद्धि लाभ कर परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।

भगवान महावीर ने साधु आचार और साधु जीवन की मर्यादा की ओर संकेत करते हुए कहा है—श्रमण के लिए लाघव—कम से कम साधनों से जीवन निर्वाह करना, निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूर्च्छा—अनासक्ति, अप्रतिबद्धता, अक्रोधता, अमानता, निष्कपटता, और निर्लोभता के द्वारा साधनात्मक मार्ग प्रशस्त होता है।^३ इस कथन के आधार पर जैनागमों में साधु के आचार-विचार की विस्तार से प्ररूपणा की गई है। संक्षेप में यहाँ साधु-आचार का दिग्दर्शन करते हैं।

साधु आचार की रूपरेखा

पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। पांच समिति—ईयांसमिति, भाषा-समिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, परिष्ठापनिकासमिति। तीन गुप्ति—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। द्वादश अनुप्रेक्षा—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोकभावना, बोधिदुर्लभ, धर्मभावना। दस धर्म—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य। पांच चारित्र—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय, यथाख्यात। इस प्रकार से महाव्रत में लेकर चारित्र पर्यन्त साधु आचार की संक्षिप्त रूपरेखा है। इनका विवरण यथाक्रम से बतलाते हैं।

पंच महाव्रत—पांच महाव्रत साधुता की अनिवार्य वृत्ति है। इनका भली-भाँति पालन किये बिना कोई भी साधु नहीं कहला सकता है।

१. अहिंसा महाव्रत

जीवन पर्यन्त के लिए सर्वथा प्राणातिपातविरमण। यानी त्रस और स्थावर सभी जीवों की मन, वचन, काय से हिंसा न करना, दूसरे से भी नहीं कराना और हिंसा करने वाले का अनु-मोदन न करना।

अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाले के मन, वचन और काय सद्भावना से आप्लावित होते हैं। वह प्राणिमात्र पर अखण्ड करुणा की वृष्टि करते हैं। अतएव वह सजीव जल का उपयोग नहीं करते। अग्निकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिए अग्नि का किसी भी प्रकार से आरंभ

१. समो निन्दापसंसासु तहा माणावमाणओ।

—उत्त० १६।६१

२. पुढवीसमो मुणी हवेज्जा।—दशवै० १०।१३

३. भगवती १/६

आचार्यप्रवचन अभिरुचि आचार्यप्रवचन अभिरुचि
श्रीआनन्दश्री अन्धदुःख श्रीआनन्दश्री अन्धदुःख



नहीं करते हैं। पंखा आदि हिलाकर वायु को उद्वेलित नहीं करते हैं। कन्द, मूल, फल आदि किसी भी प्रकार की सञ्चित वनस्पति का स्पर्श भी नहीं करते। पृथ्वीकाय के जीवों की रक्षा के लिए जमीन को खोदने आदि की क्रिया नहीं करते हैं। रात्रि में विहार आहार, आदि नहीं करते हैं और ऊँट, घोड़ा, बैल आदि का सवारी के लिए उपयोग नहीं करते हैं। इनका सारांश यह है कि जिन कारणों और क्रियाओं द्वारा जीवहिंसा की सम्भावना हो सकती है, उन सब कार्यों से अहिंसा का पालक विरत रहता है।

२. सत्यमहाव्रत

सर्वथा मृषावाद का विरमण करना। मन से सत्य विचारना, सत्य वचन को बोलना और काय से सत्य आचरण करना। क्रोध, लोभ, हास्य, भय आदि कारणों के वश होकर सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना। सत्य का साधक मौन रहना प्रियतर मानता है, फिर भी प्रयोजन-वश हित, मित और प्रिय निर्दोष भाषा का प्रयोग करता है। वह न तो बिना सोचे-विचारे बोलता है और न हिंसा को उत्तेजना देने वाला भी वचन कहता है।

३. अचौर्यमहाव्रत

सर्वथा अदत्तादानविरमण। साधु संसार की कोई भी वस्तु चाहे वह सञ्चित हो या अञ्चित, अल्पमूल्य की हो या बहुमूल्य की, छोटी हो या बड़ी, बिना स्वामी की आज्ञा के ग्रहण नहीं करते हैं। और तो क्या दांत साफ करने के लिए तिनका भी बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करते हैं।

४. ब्रह्मचर्यमहाव्रत

सर्वथा मैथुनविरमण। कामराग-जनित चेष्टा का नाम मैथुन है। साधक के लिए काम-वृत्ति और वासना का नियमन आवश्यक है। इस व्रत का पालन करना दुद्धर है अतएव इस व्रत का पालन करने के लिए अनेक प्रकार की नियम-मर्यादायें बतलाई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. शुद्ध स्थान सेवन—स्त्री-पशु, नंपुसकों से रहित स्थान में रहना।
२. स्त्री का वर्जन—कामराग उत्पन्न करने वाले स्त्री के हाव, भाव, विलास आदि का सम्पर्क व वर्जन न करना।
३. एकासनत्याग—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना एवं जहाँ स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर अन्तर्मुहूर्त तक न बैठना।
४. दर्शननिषेध—स्त्री के अंगोपांगों को प्रेमभरी या स्थिर दृष्टि से न देखना।
५. श्रवणनिषेध—स्त्री-पुरुषों के विकारोत्पादक कामुकता पूर्ण शब्दों को न सुनना।
६. स्मरणवर्जन—पूर्व कालीन विषय भोगों का स्मरण न करना।
७. सरस आहारत्याग—सरस, पौष्टिक, विकार जनक राजस, तामस आहार का त्याग करना।
८. विभूषात्याग—स्नान, मंजन, विलेपन आदि द्वारा शरीर को विभूषित नहीं करना।
९. शब्दादित्याग—विकारोत्पादक शब्द, रूप आदि इन्द्रिय विषयों में आसक्त न बनना।

ये नियम ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले द्वारपाल के समान हैं। इनका ध्यान रखने से ब्रह्मचर्य को किसी प्रकार का खतरा नहीं है। इनमें से आदि के नौ नियमों को ब्रह्मचर्य की नव गुप्ति (वाड़) और दसवें (ब्रह्मचर्य) को कोट भी माना गया है।

५. अपरिग्रहमात्र

सर्वथा परिग्रहविरमण । साधु परिग्रहमात्र का त्यागी होता है । चाहे फिर वह घर, धन-धान्य हो, द्विपद, चतुष्पद हो या अन्य कुछ भी हो । वह सदा के लिए मन, वचन, काय से समस्त परिग्रह—मूर्च्छाभाव को छोड़ देता है और पूर्ण असंग, अनासक्त, अपरिग्रही होकर विचरण करता है । संयमसाधना में जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उनके प्रति भी ममत्व नहीं होता है ।

किसी भी वस्तु में मूर्च्छा-आसक्ति का नाम परिग्रह है । वस्तुयें बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की हैं । बाह्य परिग्रह में क्षेत्र, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, गाय-बैल आदि का ग्रहण होता है और हास्य, रति, अरति, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारों को आभ्यन्तर परिग्रह माना जाता है । साधु दोनों प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं ।

पांच समिति

पाप प्रवृत्तियों से बचने के लिए प्रशस्त एकाग्रता की जाने वाली-प्रवृत्ति को समिति कहते हैं । ये पांच प्रकार की समितियां महाव्रतों की रक्षा और पालन में सहायक होने से साधु आचार की अंग हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. ईर्या समिति—जीवों की रक्षा के लिए, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के निमित्त सावधानी के साथ चार हाथ जमीन देखकर चलना ।

२. भाषा समिति—यतना पूर्वक हित, मित, प्रिय, निरवद्य सत्य बोलना ।

३. एषणा समिति—निर्दोष एवं शुद्ध आहार, उपधि आदि की गवेषणा कर ग्रहण करना ।

४. आदान-निक्षेपण समिति—आदान नाम लेने—ग्रहण करने, उठाने का है और निक्षेपण का अर्थ है रखना । किसी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना, जिससे किसी भी जीव-जन्तु का घात न हो जाये ।

५. परिष्ठापनिका समिति—मल, मूत्र आदि अनावश्यक वस्तुयें ऐसे स्थान पर विसर्जित करना, जिससे जीवों का घात न हो और न जीवोत्पत्ति हो तथा दूसरों को घृणा या कष्ट न हो ।

उक्त पांच समितियां साधक की प्रवृत्ति को निर्दोष बनाती हैं ।

तीन गुप्ति

मोक्षाभिलाषी आत्मा का आत्मरक्षा के लिए इन्द्रियों और मन का गोपन करना अर्थात् उन्हें असत्य प्रवृत्ति से हटा लेना, अशुभ योगों के रोकना गुप्ति कहलाती है । गुप्त के तीन भेद इस प्रकार हैं—

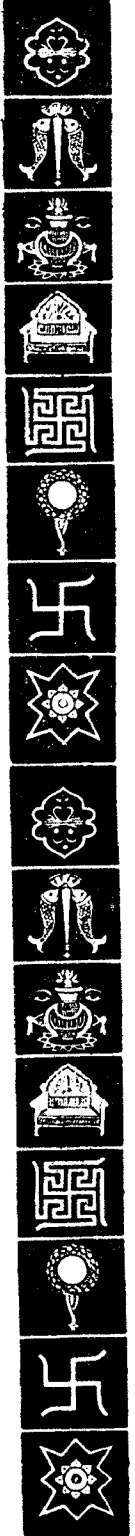
१. मनोगुप्ति—मन को अप्रशस्त, अशुभ एवं कुत्सित संकल्प-विकल्पों से हटाना यानी आर्त-रौद्र ध्यान तथा संरम्भ, समारम्भ, आरंभ सम्बन्धी मानसिक संकल्प-विकल्पों को रोक देना ।

२. वचनगुप्ति—वचन के अशुभ व्यापार को रोकना, असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक, अहितकर भाषाप्रयोग को रोक देना ।

३. कायगुप्ति—उठना, बैठना, खड़ा होना आदि कायिक व्यापार हैं । शरीर को असत व्यापारों से निवृत्त करना एवं प्रत्येक शारीरिक क्रिया में अयतना-असावधानी का परित्याग करके सावधानी रखना ।

समिति प्रवृत्ति रूप है और गुप्ति निवृत्ति रूप । समिति और गुप्ति का घनिष्ट सम्बन्ध है ।

आचार्यप्रवृत्ति अभिनेत्री आचार्यप्रवृत्ति अभिनेत्री
श्रीआनन्दरत्न अन्धशुभ्र श्रीआनन्दरत्न अन्धशुभ्र



जैसे सावधानी पूर्वक चलना ईर्या-समिति है और देखे बिना न चलना कायगुप्ति है। निरवद्य भाषा बोलना भाषासमिति है और सावद्य भाषा निरोध करना या मौन रहना वचनगुप्ति है। सारांश यह है कि समिति द्वारा जो मन, वचन, आदि की प्रवृत्ति की जाती है, उसमें गुप्ति द्वारा अयतना-असावधानी के अंश की निवृत्ति की जाती है।

पांच समिति और तीन गुप्ति इन आठों को प्रवचनमाता कहते हैं।^१ इनमें द्वादशांग रूप प्रवचन—शास्त्र समा जाते हैं। पांच महाव्रतों का जीवन के प्रत्येक व्यवहार में सतत पालन करना होता है। महाव्रत सिर्फ नियम मात्र नहीं किन्तु जीवन व्यवहार बने इसके लिए ऐसे आचार की तालीम जीवन में आये एतदर्थ आगमों में महाव्रतों की २५ भावनाएँ बताई गई हैं। उन भावनाओं के चिन्तन-अनुशीलन से जीवन व्रतों में एकरस हो जाता है और वह सहज जीवन क्रम बन जाता है। विस्तार के लिए प्रश्न-व्याकरण संवर द्वार देखना चाहिए।

बारह भावनाएँ

साधना को ओजस्वी और सजीव बनाने के लिए मन को साधना अनिवार्य है। मन का निग्रह किए बिना आचार में शुद्धता नहीं आ सकती है। इसीलिए मन को साधने, विरक्ति की स्थिरता एवं वृद्धि के लिए साधक को अनित्य आदि बारह भावनाओं को पुनः पुनः चिन्तन करना जरूरी बताया है। जब तक साधक सांसारिक वस्तुओं को क्षणभंगुर, अपने आपको अशरण, अकेला आदि नहीं मानेगा और आत्म-विकास के कारणों को नहीं समझेगा, तब तक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। भावनाएँ वैराग्य को जगाने एवं संयम को सबल बनाने में सहायक होने से चिन्तन करने योग्य हैं। बारह भावनाओं का चिन्तन प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह श्रमण हो या श्रावक, कर सकता है। इन भावनाओं का जितना चिन्तन-मनन किया जायेगा, उतना ही मन एकाग्र होगा, विरक्त होगा और मन की एकाग्रता होने पर कर्ममुक्ति सहज हो जायगी।

बारह भावनाओं के नाम पूर्व में कहे गये हैं और उनका अर्थ भी सरलता से समझा जा सकता है। अतः यहाँ विशेष कथन नहीं किया गया है।

दस श्रमणधर्म

जीव स्वभाव से अमर है लेकिन कर्मवशात जन्म-मरण अवस्थाओं द्वारा शरीर से शरीरान्तर होता रहता है। फिर भी भौतिक पदार्थों के माध्यम से अथवा संतान परम्परा द्वारा अपने को अमर करने की अभिलाषा रखकर बाह्य नाशवान पदार्थों के संग्रह में जुटा रहता है। उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में रत रहने से अमरता के मूल आधार आत्मा का ज्ञान ही नहीं होता है तो ये नाशवान पदार्थ अमर कैसे बना सकते हैं, जो स्वयं नाशवान हैं, वे दूसरों को कैसे अमर बना सकेंगे? हां! अमरता प्राप्ति का मार्ग क्षमा, मार्दव आदि दस विधि धर्म रूप है। इसीलिए श्रमण को उनका पालन करना आवश्यक बतलाया है। उनका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है।

१. क्षमा—क्रोध को उत्पन्न न होने देना एवं उत्पन्न होने पर उसे जीतना, शमन करना क्षमा है।

बृहत्कल्प भाष्य ४/१५ में बतलाया है कि साधु, सार्ध्वियों को परस्पर में कलह हो जाने पर तत्काल क्षमायाचना करके शान्त कर देना चाहिए। क्षमायाचना किए बिना गोचरी आदि के लिए जाना, स्वाध्याय करना, विहार भी नहीं कल्पता है। क्षमायाचना करने वाला साधु आराधक और न करने वाला विराधक माना गया है।



२. **मार्दव**—मान को जीतना, विनम्र वृत्ति रखना मार्दव कहलाता है। अभिमान के आठ कारण होने से अभिमान के आठ भेद हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य (प्रभुत्व)। व्यक्ति जिस-जिस वस्तु का अभिमान करता है, उससे उस वस्तु की प्राप्ति में कमी हो जाती है। जैसे ज्ञान का धमण्ड करने से मूर्खता और रूप का अभिमान करने से कुरूपता मिलती है। इसीलिए अभिमान करना योग्य नहीं है। व्यक्ति जिन वस्तुओं पर अभिमान करता है, वे तो क्षणिक हैं किन्तु उन पर अभिमान करने से पाप कर्मों का बंध तो हो जाता है।

३. **आर्जव**—माया, छल कपट, वक्रता का त्याग करना। सरल वृत्ति रखना। आर्जव धर्म का पालन करने से मन, वचन, काय की कथनी करनी में समानता की प्राप्ति होती है।

४. **शौच**—लोभ को जीतना। पौद्गलिक वस्तुओं की आसक्ति का त्याग करना। इस धर्म का पालन करने से अपरिग्रहत्व की प्राप्ति होती है। शौच का दूसरा नाम मुक्ति भी है, संतोष है।

५. **सत्य**—सावद्य-अप्रिय एवं अहितकारी मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करना, सत्य व्यवहार करना सत्य धर्म है। सत्यधर्म का पालन करने वाले को ही सभी प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसीलिए साधु को प्राण देकर भी सत्य धर्म की सुरक्षा करना चाहिए।

६. **संयम**—सर्व सावद्य व्यापारों से निवृत्त होना संयम धर्म है। संयम के सत्रह भेद हैं—पाँच आसवों से निवृत्ति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय, तथा मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति से विरति।

७. **तप**—जिस अनुष्ठान द्वारा शारीरिक विकारों और ज्ञानावरणादि कर्मों को तपाकर नष्ट किया जाये। तप के बाह्य और आभ्यन्तर यह दो भेद हैं। बाह्य तप के अनशन, ऊनोदरी आदि छः भेद हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य आदि अन्तरंग तप के छह भेद होते हैं। कुल मिलाकर तप के बारह भेद हैं।

८. **त्याग**—कर्मों के ग्रहण कराने के बाह्य कारण—पारिवारिक जन तथा आभ्यन्तर कारण—राग-द्वेष आदि का त्याग करना त्याग धर्म है।

९. **आकिंचन्य**—इसका दूसरा नाम लाघव है। यानी द्रव्य से अल्प उपकरण रखना तथा भाव से तीन प्रकार के गारव—ऋद्धिगारव, रसगारव, सातागारव का परित्याग करना। मान एवं लोभ से मिश्रित अशुभ भावना का नाम गारव है।

१०. **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्म अर्थात् आत्मा और चर्य अर्थात् चिन्तन। आत्मा के चिन्तन में तल्लीन रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

उपरि-उल्लिखित महाव्रत आदि श्रमण आचार प्रवृत्ति करने से स्व में रमणता करने में वृद्धि होती जाती है। इसीलिए इन सबको साधु आचार का व्यावहारिक रूप कह सकते हैं। इन सबका यथावत् आचरण करने से स्व को स्व में देखना सरल होता जाता है और जब साधक अपनी साधना की चरम स्थिति पर पहुँच जाता है तब स्व-रमणता के क्षेत्र में प्रवृष्ट होकर आत्मोन्मुखी बन जाता है। उसकी यह स्थिति योगी जैसी कही जा सकती है।

योगावस्था सम्पन्न आत्मा अपने आप में समता भावना को इतना व्यापक बना लेता है कि बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण तो पहले ही नष्ट हो जाता है लेकिन जो कुछ भी थोड़ा बहुत राग-द्वेष का अंश शेष रह जाता है उसे भी साधना के द्वारा शांत करता है अथवा उसको निष्क्रिय बना देता है।

इस प्रकार संक्षेप में यह श्रमण-आचार है।

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरत्न अथर्व श्रीआनन्दरत्न अथर्व

श्रावक धर्म

श्रमण साक्षात् रूप से मोक्ष मार्ग के साधक होते हैं, वे पूर्ण मनोबल के साथ तृष्णा, भोग-अभिलाषा एवं ममत्व का त्याग करते हैं। श्रावक साधुपद के उक्त आदर्शों की मर्यादा का निर्वाह करने में समर्थ न होने के कारण शनैः शनैः क्रम क्रम से मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने का अभ्यास करते हैं। इसी दृष्टि से श्रावक वर्ग के लिए महाव्रतों के अनुसरण करने में सुविधा की दृष्टि से आचार धर्म के नियम बतलाये हैं। श्रावक वर्ग के लिए बताये गये आचार का यहां संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

श्रावक का पद श्रमण के समकक्ष तो नहीं है किन्तु अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। हर कोई व्यक्ति श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता है लेकिन जिसमें श्रावक के योग्य गुण हैं और जो व्रतों को धारण करता है वह श्रावक बन सकता है। इसीलिए आचार्यों ने श्रावक शब्द के प्रत्येक अक्षर का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है^१—

श्रा—जो सर्वज्ञभाषित तत्व पर श्रद्धा रखता है।

व—सत्पात्रों में दान रूप बीज बोता है।

क—कर्मरूप मलिनता को दूर हटाता है।

वह श्रावक कहलता है। श्रमणों—साधुओं की उपासना करने, सेवा करने के कारण श्रावक को श्रमणोपासक भी कहा गया है।

श्रावक अल्प-आरम्भी, अल्प-परिग्रही, धर्म भावना युक्त, धर्म का अनुसरण करने वाले, धर्म की प्रभावना करने वाले, सुशील, सुव्रती, धर्म में आनन्द मानने वाले होते हैं।

श्रावक के आचार को 'अणुव्रत' कहते हैं। श्रावक अपनी शक्ति, मर्यादा आदि को ध्यान में रखकर त्यागमार्ग की ओर अग्रसर होने के साथ व्रतों को अणुरूप में अर्थात् आंशिक रूप में, मर्यादा व छूट के साथ स्वीकार करता है, इसलिए वह अणुव्रती कहलाता है। श्रावक के लिए निम्न प्रकार से बारह व्रतों का विधान किया गया—

पांच अणुव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी आदि का आंशिक रूप से त्याग करना।

तीन गुणव्रत—अणुव्रतों के पालन में विशेष सहायता करने वाले व्रत।

चार शिक्षाव्रत—अणुव्रतों, गुणव्रतों तथा धर्मसाधना का विशेष अभ्यास कराने वाले व्रत। अणुव्रत और गुणव्रत यावज्जीवन के लिए ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु उनको सबल बनाने के लिए समयानुसार प्रतिदिन मर्यादा की जाती है।^२

श्रावक-आचार के बारह व्रतों के नाम और उनका संक्षेप में स्वरूप निम्नप्रकार है—

१. अहिंसाणुव्रत

स्थूल प्राणातिपातविरमण, अर्थात् निरपराध त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने का त्याग करना।

संसार में जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस और एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते हैं।

हिंसा के चार प्रकार हैं—आरंभी हिंसा, २. उद्योगी हिंसा, ३. विरोधी हिंसा और ४. संकल्पी हिंसा।

१ स्थानांग ४।४ टीका

२ (क) उपासक दशा० १, टीका

(ख) तत्त्वार्थसूत्र

जीवन निर्वाह, परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरंभी हिंसा है। आजीविका चलाने के लिए कृषि, गोपालन आदि जो-जो उद्योग किए जाते हैं, उनमें हिंसा की भावना व संकल्प न होने पर भी अनिवार्यतः जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा कहलाती है। अपने प्राणों की रक्षा एवं परिवार, देश आदि की रक्षा के लिए प्रतिरक्षात्मक रूप में की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा तथा निरपराध प्राणी को जानबूझ कर मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है।

उक्त चारों प्रकार की हिंसा में से श्रावक संकल्पी हिंसा का तो पूर्ण रूप से त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा में से यथाशक्ति त्याग करते हुए अहिंसाणुव्रत का पालन करता है। संकल्पी हिंसा का त्याग करने से भी बहुत सी हिंसा से बचा जा सकता है।

अहिंसाव्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच अतिचारों (दोषों) से बचने के लिए श्रावक को सदा ध्यान रखना चाहिए—

बंध—किसी जीव को बांधना, जैसे तोता आदि को पिंजरे में बन्द कर देना।

वध—किसी जीव को मारना, पीटना।

छविच्छेद—किसी का अंग-भंग करना, विरूप बनाना।

अतिभार—घोड़े, बैल आदि पशुओं पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरों से अधिक काम लेना।

भक्तपानविच्छेद—अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन-पानी न देना।

इसके सिवाय रात्रि में भोजन आदि का त्याग करना भी अहिंसाव्रत की भावना के लिए आवश्यक है।

२. सत्याणुव्रत

स्थूल (ऐसा असत्य जिससे सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से अनर्थों की सम्भावना हो), असत्य (झूठ) बोलने का सर्वथा त्याग करना एवं सूक्ष्म असत्य बोलने के प्रति सावधान रहना। यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य में भेद करना कठिन है, लेकिन जिसे सत्पुरुष और लोक-व्यवहार में असत्य माना जाता है, ऐसे असत्य का त्याग करना आवश्यक है।

सत्य व्रत का भली-भाँति पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच दोषों पर ध्यान देना जरूरी है—

(१) **सहसाभ्याख्यान**—बिना विचारे असावधानी पूर्वक दूसरे पर मिथ्यारोपण करना।

(२) **रहोभ्याख्यान**—किसी की गुप्त बात को प्रगट कर देना।

(३) **स्वदारमंत्रभेद**—पत्नी के साथ एकान्त में हुई मंत्रणा को दूसरे के सामने कहना अथवा उसके साथ विश्वासघात करना।

(४) **मूषोपदेश**—दूसरे को गलत सलाह देना, मिथ्या उपदेश करना।

(५) **कूटलेखकरण**—जालसाजी करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना।

इन कार्यों से सम्बन्धित अन्य प्रवृत्तियों जैसे आत्मप्रशंसा, परनिन्दा, ईर्ष्या, चुगली करना, आदि से बचने का ध्यान सत्यव्रती को रखना चाहिए।

३. अचौर्याणुव्रत

स्वामी की आज्ञा के बिना किसी की वस्तु को न लेना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। चोरी दो प्रकार की है—स्थूल चोरी और सूक्ष्म चोरी। जिस चोरी के कारण व्यक्ति चोर कहलाये, न्यायालय दण्ड दे और जो समाज में चोरी के नाम से कहलाये वह स्थूल चोरी है और रास्ते चलते-फिरते

आचार्यप्रवृत्त अमिने... आचार्यप्रवृत्त अमिने...
श्रीआनन्द... अथ... श्रीआनन्द... अथ...



कंकर, तिनका आदि उठा लेना या इसी प्रकार की अन्य कोई वस्तु स्वामी की आज्ञा के बिना ले लेना सूक्ष्म चोरी में गणित किया जा सकता है। गृहस्थ के लिए जीवन में पूर्ण रूप से चोरी का त्याग करना कठिन है, इसलिए उसे स्थूल चोरी के त्याग करने का विधान किया गया है।

अचौर्याणुव्रती को निम्नलिखित पाँच बातों से बचना चाहिये—

१. स्तेनाहृत—चोरी (तस्करी) का माल खरीदना।
२. स्तेनप्रयोग—चोर को चोरी करने की प्रेरणा एवं सहायता देना।
३. विरुद्धराज्यातिक्रम—राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करना, जैसे उचित कर न देना। राजा की आज्ञा के विरुद्ध विदेशों को माल भेजना और मंगवाना।
४. कूटतुला-मान—न्यूनाधिक तोलना, मापना।
५. प्रतिरूपक व्यवहार—बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु की मिलावट। संध लगाना, जेब काटना, सूद के बहाने किसी को लूट लेना आदि भी स्थूल चोरी के अन्तर्गत हैं। अतः इन कार्यों को किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत

इसको स्वदारसंतोषव्रत भी कहते हैं। काम-भोग एक प्रकार का मानसिक रोग है, जिसका प्रतिकार भोग से नहीं हो सकता है। अतः मानसिक बल, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मविकास के लिए कामेच्छा से बचना पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत है। लेकिन जो ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णरूप से पालन नहीं कर सकते उन्हें परस्त्रीगमन का तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और स्वस्त्री के साथ भी ब्रह्मचर्य की मर्यादा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ब्रह्मचर्याणुव्रती कामवासना पर विजय प्राप्त के लिए सदा सचेष्ट रहता है। निम्न पाँच दोषों से ब्रह्मचर्याणुव्रती सदैव बचता रहे—

- (१) इत्वरिका परिगृहीतागमन—रखैल आदि के साथ सम्बन्ध रखना।
- (२) अपरिगृहीतागमन—कुमारी या वेश्या आदि से सम्बन्ध रखना।
- (३) अनंगक्रीड़ा—काम सेवन के प्राकृतिक अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना अथवा अप्राकृतिक मैथुन सेवन करना।
- (४) परविवाहकरण—अपने या परिवार के सिवाय दूसरों के विवाह करवाना, उनके विवाहसम्बन्ध (सगाई आदि) स्थापित कराने में अधिक रुचि लेना।
- (५) कामभोग-तीव्र अभिलाषा—कामभोगों की तीव्र अभिलाषा रखना, शब्द, रूप आदि इन्द्रिय विषयों में विशेष आसक्त होना।

५. परिग्रहपरिमाणव्रत

पर पदार्थों में मूर्च्छा-ममत्व व आसक्ति का नाम परिग्रह है। परिग्रह को संसार का सबसे बड़ा पाप कह सकते हैं। परिग्रह-संग्रहवृत्ति के कारण संसार में युद्ध, वर्गसंघर्ष आदि की ज्वाला सुलग रही है। जबतक मनुष्य में लोभ, लालच, गृद्धि भावना विद्यमान है, तब तक शांति नहीं मिल सकती। गृहस्थ सम्पूर्ण रूप से परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। अतः उसके लिए परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करने का विधान है। इससे असीम इच्छाएँ सीमित हो जाती हैं। इस कारण इस व्रत को इच्छापरिमाणव्रत भी कहते हैं।

यदि विश्व के सभी नागरिक परिग्रह का परिमाण कर लें तो यह भूमण्डल स्वर्गलोक बन सकता है। परिग्रहपरिमाणव्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित दोषों से बचना चाहिए—

- (१) क्षेत्रावस्तु परिमाण-अतिक्रमण—मकान, खेत आदि के क्षेत्र के परिमाण का अतिक्रमण करना।

(२) हिरण्य-सुवर्ण प्रमाण-अतिक्रमण—सोने-चांदी आदि के प्रमाण को भी किसी बहाने से बढ़ाना ।

(३) धन-धान्य प्रमाणातिक्रमण—मर्यादित प्रमाण के अतिरिक्त रुपया-पैसा अनाज, आदि की मर्यादा का भंग करना ।

(४) द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण—द्विपद (नौकर), चतुष्पद (गाय, बैल आदि) के परिमाण का उलंघन करना ।

(५) कुव्य प्रमाणातिक्रमण—दैनिक उपयोग में आने वाले वस्त्र, बर्तन आदि के कृत प्रमाण का उलंघन करना ।

पूर्वोक्त पांच अणुव्रत श्रावक के मूलव्रत हैं । उनका भलीभांति आचरण करने के लिए और जिन व्रतों की आवश्यकता होती है उन्हें उत्तरव्रत कहते हैं । गुणव्रत और शिक्षाव्रत इसी प्रकार के उत्तरव्रत हैं । उनमें से पहले गुणव्रतों की व्याख्या करते हैं—

६. दिग्ब्रत

मनुष्य तृष्णा के वश होकर विभिन्न क्षेत्रों में भटकता रहता है । धन की लालसा में ऊपर, नीचे, तिरछे हजारों मील भी जा सकता है, फिर भी उसकी आवश्यकता पूरी नहीं होती है । अतः इस लालसा को नियंत्रित करने के लिए श्रावकाचार में दिग्ब्रत का विधान किया गया है । इस व्रत का धारक समस्त दिशाओं—ऊपर, नीचे, तिरछे, दसों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करता है और उससे बाहर के क्षेत्र में सब प्रकार के व्यापारों को त्याग देता है । इसको दिशापरिमाण व्रत भी कहते हैं ।

इस व्रत के धारक श्रावक को पांच अणुव्रतों सम्बन्धी दोषों से बचने के समान दिग्ब्रत सम्बन्धी निम्नलिखित पांच दोषों से बचने का ध्यान रखना चाहिए—

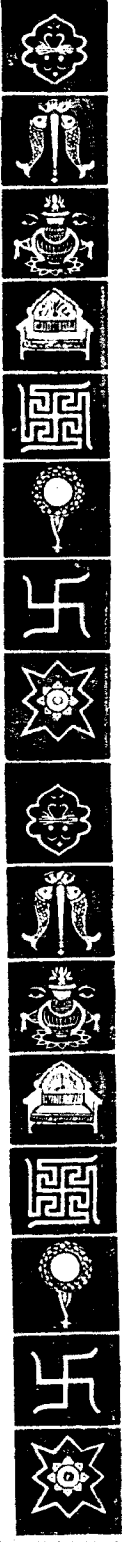
- (१) उर्ध्वदिशा में की गयी क्षेत्रमर्यादा का अतिक्रमण करना ।
- (२) अधोदिशा की मर्यादा को असावधानी वश उलंघन करना ।
- (३) तिरछी दिशा में कृत मर्यादा का सीमोलंघन करना ।
- (४) किसी दिशा के प्रमाण को घटाकर दूसरी दिशा के क्षेत्रप्रमाण में वृद्धि कर लेना ।
- (५) सन्देह हो जाने पर सीमित क्षेत्र से भी आगे चले जाना ।

७. उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत

एक बार भोगने योग्य भोजन आदि वस्तुओं को उपभोग और पुनःपुनः भोग की जाने वाली वस्तुओं को परिभोग कहते हैं, जैसे—वस्त्र, पात्र आदि वस्तुएँ । इस व्रत में उपभोग-परिभोग संबंधी वस्तुओं का मर्यादा-उपरान्त त्याग किया जाता है । यह व्रत भोग और कर्म (व्यवसाय) की दृष्टि से दो प्रकार का है । भोग से त्याग करने पर इन्द्रिय विषयों की लोलुपता कम होती है और व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने पर पापपूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है । इस व्रत सम्बन्धी पांच अतिचार यह हैं—

- (१) त्याग किए हुए सचित्त द्रव्य को असावधानीवश खा लेना ।
- (२) सचित्त वस्तु से संयुक्त द्रव्य को खाना ।
- (३) नहीं पके हुए कच्चे फल, धान्य आदि को खाना ।
- (४) पूरे नहीं पके हुए बाजारा, गेहूँ आदि को खाना ।
- (५) जिनमें खाने का पदार्थ थोड़ा हो ओर फैंकना अधिक पड़े ऐसे फल आदि को खाना, जैसे सीताफल, ईख आदि ।

आचार्यप्रवृत्त अभिनन्दन आचार्यप्रवृत्त अभिनन्दन
श्रीआनन्दश्री अन्धश्री श्रीआनन्दश्री अन्धश्री



कर्म (व्यापार) सम्बन्धी परिमाण करने में महारम्भ वाले व्यापार-धन्वों का त्याग किया जाता है। शास्त्रों में निम्नलिखित १५ कर्मादान (व्यापार) बतलाये हैं—

१. इंगालकम्मे—कोयले आदि बनाने का व्यापार।
२. वणकम्मे—जंगल के वृक्षों को काटकर बेचने का व्यापार।
३. साड़ीकम्मे—गाड़ी, रथ, पालकी, किवाड़ आदि बनाकर बेचना।
४. भाड़ीकम्मे—ऊंट, बैल आदि से भाड़ा कमाना।
५. फोड़ीकम्मे—हल, कुल्हाड़ी, सुरंग आदि से पृथ्वी फोड़ना।
६. दन्तवाणिज्जे—हाथी दांत, शंख, चर्म आदि का व्यापार।
७. लखवाणिज्जे—लाख, मेणसिल, रेशम आदि का व्यापार।
८. रसवाणिज्जे—घी, दूध, तेल, मदिरा आदि का व्यापार।
९. विषवाणिज्जे—अफीम, संविधा आदि का व्यापार।
१०. केशवाणिज्जे—केश वाले जीवों का व्यापार करना।
११. जन्तपोलणकम्मे—तिल, ईख, सरसों आदि पीलने का व्यापार।
१२. निलंक्षणकम्मे—पशुओं को नपुसक बनाने का व्यापार।
१३. दवरिगदावणया—वन, पर्वतों में आग लगाने का धन्धा।
१४. सरदहतडागपरिशोषणया—खेती आदि के लिए तालाब आदि को सुखाने का व्यापार।
१५. असईजणपोषणया—आजीविका के लिए वेश्या, नट, भांड आदि रखना।

उक्त पन्द्रह प्रकार के कर्मादान व्यापार की दृष्टि से कहे हैं। श्रावक को इन व्यापारों की मर्यादा करना चाहिए।

८. अनर्थदण्डविरमणव्रत

बिना प्रयोजन के हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है। हास्य, कौतूहल, अविवेक आदि के वश होकर की जाने वाली हिंसा अनर्थ हिंसा है। श्रावक को इस प्रकार की व्यर्थ में होने वाली हिंसा का त्याग करना चाहिए। विवेक शून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करती है। इसीलिए अनर्थदण्ड के चार प्रकार हैं—

- (१) अपध्यान—आर्त और रौद्र ध्यान में रत रहकर दूसरों का बुरा विचारना।
- (२) प्रमादाचरित—प्रमाद का आचरण करना, निन्दा, विकथा आदि करना।
- (३) हिंसाप्रदान—तलवार, बन्दूक आदि हिंसा के साधनों को दूसरों को देना।
- (४) पापोपदेश—पापजनक कार्यों को करने का उपदेश देना।

इस व्रत को वैसे भी जन सामान्य अपना ले तो संसार में व्यर्थ होने वाली हिंसा से व्यक्ति बच सकता है। लेकिन श्रावक को अपने निर्दोष जीवन के लिए अनर्थदण्ड का त्याग आवश्यक है। इस व्रत का साधक कामवर्धक वार्तालाप नहीं करता। फूहड़ चेष्टाएं नहीं करता और न हिंसक साधनों के क्रय-विक्रय में भाग लेता है। भोगोपभोग के पदार्थों में आसक्त नहीं होता। अनर्थदण्ड-विरमणव्रत के निम्नलिखित पांच अतिचार हैं—

- (१) कन्दर्प—कामवासना-वर्धक शब्दों आदि का उपयोग करना।
- (२) कौत्कुच्य—भांड, विदूषक आदि की तरह शरीर की कुचेष्टाएं करना।
- (३) मौखर्य—बिना कारण अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना।
- (४) संयुक्ताधिकरण—हिंसाकारक वस्तुओं को तैयार करके रखना।

(५) **उपभोगपरिभोगातिरिक्ता**—उपभोग-परिभोग के लिए जिन वस्तुओं की मर्यादा की गयी है उनमें अत्यधिक आसक्त रहना। विशेष आनन्द लेने के लिए उनका बार-बार उपभोग करना। गुणव्रत के भेदों का कथन करके अब शिक्षाव्रत के ४ भेदों के स्वरूप को बतलाते हैं। उनके नाम और लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

६. सामायिक

मन की राग-द्वेषमयी परिणति विषमभाव है और वस्तुओं पर रागद्वेष न करके मध्यस्थ भाव रखना सम कहलाता है। इस सम-भाव से साधक को जो आय-लाभ होता है, उसे सामायिक कहते हैं। अतएव समभाव को प्राप्त करने, विकसित करने और स्थायी बनाने के लिए जिस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है उसे भी सामायिक कहते हैं। ग्रहस्थ के लिए इस व्रत की आराधना का काल ४८ मिनट निर्दिष्ट किया गया है। इस समय में श्रावक को समस्त पापमय व्यापारों का त्याग करके आत्मचिन्तन करना चाहिए और उस समय में प्राप्त समभाव की प्रेरणा को जीवन-व्यापी बनाने का यत्न करना चाहिए।

सामायिक व्रत में निम्नलिखित पाँच दोषों का बचाव रखना चाहिए—

- (१) **मनोदुष्प्रणिधान**—मन से सावद्य-पाप युक्त विचार करना।
- (२) **वचनदुष्प्रणिधान**—सावद्य वचन बोलना।
- (३) **कायदुष्प्रणिधान**—शरीर की सावद्य प्रवृत्ति करना।
- (४) **सामायिकस्मृतिअकरणता**—मैंने सामायिक की है, इसे भूल जाना अथवा सामायिक करना ही भूल जाना।

(५) **सामायिक अनवस्तिकरणता**—सामायिक से ऊबकर उसके निर्धारित समय से पहले उठा जाना या सामायिक के समय के पूरे होने या न होने के लिए बार-बार घड़ी आदि की ओर ध्यान जाना।

१०. देशावकाशिकव्रत

दिग्व्रत में जीवन पर्यंत के लिए गमनागमन के लिए की गई मर्यादा में से एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना और उस मर्यादा के बाहर के समस्त पापकार्यों का त्याग कर देना देशावकाशिक व्रत है। इस व्रत में भोगोपभोग की वस्तुओं के लिए की गई मर्यादा में भी संकोच किया जाता है।

इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

- (१) **आनयनप्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को दूसरों से मंगवाना।
- (२) **प्रेष्यप्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर दूसरों के द्वारा वस्तु को भिजवाना।
- (३) **शब्दानुपात**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर न जा सकने के कारण छींक, खांसी आदि शब्द प्रयोग के द्वारा दूसरे को बुलाना।
- (४) **रूपानुपात**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर रहे हुए व्यक्ति को अपनी शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बुलाना या सूचना आदि देना।
- (५) **बहिःपुद्गलक्षेप**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन वश अपना भाव बतलाने के लिए पत्थर, कंकड़ आदि फेंकना।

इन अतिचारों से श्रावक को बचना चाहिए।

११. पौषधव्रत

जिससे आत्मिक गुणों और धर्मभाव का पोषण होता है, उसे पौषधव्रत कहते हैं। यह व्रत चार प्रकार का है—

आयार्थप्रवृत्त अभिनेन्द्र आनन्दः आयार्थप्रवृत्त अभिनेन्द्र आनन्दः आयार्थप्रवृत्त अभिनेन्द्र आनन्दः



४२० धर्म और दर्शन

- (क) आहार पौषध—चौविहार उपवास अथवा नवकारसी, पोरसी आदि करना ।
- (ख) शरीर पौषध—शरीर को पूर्णतः या आंशिक अलंकृत करने का त्याग करना ।
- (ग) ब्रह्मचर्य पौषध—अन्नह्यचर्य का सर्वतः या देशतः त्याग करना ।
- (घ) अध्यापार पौषध—वाणिज्य आदि सावद्य व्यापार का त्याग करना ।

इस व्रत में सांसारिक उपाधियों से छुटकारा लेकर साधु जैसी चर्या को धारण करने का अभ्यास किया जाता है । इस व्रत का आचरण प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथियों पर किया जाता है । यह पूर्णव्रत आठ प्रहर का होता है । लेकिन आजकल चतुष्प्रहरी पौषध भी होने लगे हैं, जो न करने से कुछ करने की उक्ति के समान माने जा सकते हैं, लेकिन वास्तव में पौषधव्रत तो नहीं हैं ।

इस व्रत में निम्नलिखित पांच दोषों से बचने का ध्यान रखना चाहिए—

- (१) पौषध के समय काम में लिए जाने वाले शैया-संधारे का प्रतिनिधन न करना अथवा अविधि से करना ।
- (२) शैया-संधारे पर बैठते, सोते समय पूजणी आदि से पूंजना नहीं या अविधि से पूंजना ।
- (३) मल-मूत्र आदि के विसर्जन के स्थान को विधिपूर्वक न देखना ।
- (४) मल-मूत्र आदि के विसर्जन के स्थान को न पूंजना या अविधि से पूंजना ।
- (५) आगमोक्त विधि से स्थिरचित्त होकर पौषधव्रत का पालन न करना ।

१२. अतिथिसंविभागव्रत

जिनके आने की कोई तिथि, समय निश्चित न हों, उन्हें अतिथि कहते हैं । संग्रहपरायण मनोवृत्ति को निष्क्रिय बनाने और त्याग भावना को जागृत-विकसित करने के लिए इस व्रत का विधान है । अतिथि शब्द से मुख्यतः साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ का अर्थ ध्वनित होता है । श्रावक उनके प्रति उदार होकर दान, सेवा-भक्ति आदि तो करता ही है, लेकिन उनके सिवाय दीन-दुःखी, जरूरतमंद के लिए भी उसके द्वार खुले रहते हैं । इसलिए अतिथिसंविभाग का अर्थ यह हुआ कि अपने लिए बनी वस्तु का संविभाग-स्वयं के लिए संकोच करके अतिथि को देना ।

इस व्रत के निम्नलिखित पांच दोषों पर श्रावक को ध्यान रखना चाहिए—

- (१) सचित्तनिक्षेप—सुपात्र को नहीं देने की भावना से उनके लेने योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रख देना ।
- (२) सचित्तपिधान—नहीं देने की भावना से अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना ।
- (३) कालातिक्रम—नहीं देने की भावना से काल का अतिक्रमण करना यानी भिक्षा के समय से पहले भोजन करना या बाद में रसोई आदि बनाना ।
- (४) परव्यपदेश—नहीं देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरे की बता देना, कह देना ।
- (५) मात्सर्य—दूसरे को दान देता देखकर ईर्ष्या करना, प्रतिस्पर्धावश अधिक दान देना । मांगने पर कुपित होना आदि ।

इन और इनके समकक्ष अन्य दोषों से बचकर श्रावक को अतिथिसंविभागव्रत का पालन करना चाहिए । बारह व्रतों का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, सामाजिक शांति और स्व-पर को सुख की प्राप्ति होती है । प्रत्येक परिवार यदि इन व्रतों का पालन करने लगे तो संसार भी स्वर्ग बन जाये और विश्वबन्धुत्व स्थापित होने में विलम्ब न हो ।

व्रतधारी श्रावक को क्रमशः वैराग्य भाव में वृद्धि करते हुए मोह माया से दूर होने का प्रयत्न चालू रखना चाहिए और अपनी शक्ति को समझकर पूर्ण संयम-श्रमणाचार-ग्रहण कर लेना ।

चाहिए। यदि संयम लेना शक्य न हो तो दर्शन, व्रत, सामायिक आदि ग्यारह पड़िमाओं का पालन करना चाहिए।

पड़िमाओं का पालन करते-करते और रोग या वृद्धावस्था आदि कारणों से जब मृत्यु निकट प्रतीत होने लगे तो संथारा, संलेखना करके समाधिमरण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

संलेखना (मृत्युकला)

मृत्यु की कल्पना संसार में सबसे भयावह मानी जाती है। लेकिन हमें समझना चाहिए कि मृत्यु भी जीवन का ही दूसरा पहलू है या अनिवार्य परिणाम है। अतः मृत्यु से डरने की जरूरत नहीं है, किन्तु उसको भी इस रूप में ग्रहण करना चाहिए कि वह शोक की जगह उत्सव का रूप बन जाए। मृत्यु को भी कला का रूप देते हुए भगवान महावीर ने जो निर्देश किया है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। उन्होंने कहा कि मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। मृत्यु तो मनुष्य की मित्र है और जीवन भर की साधना को सफलता की ओर ले जाती है। यदि मृत्यु सहायक न बने तो धर्मानुष्ठान कर पारलौकिक फल स्वर्ग-मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकेगा। इसीलिए मृत्युकला का विशद विवेचन करते हुए उन्होंने मृत्यु के १७ प्रकार बतलाये हैं। उन सबको बाल (मुख जीवों का) मरण और पंडित मरण इन दो भेदों में गभित किया जा सकता है। बाल मरण से वे जीव शरीर त्यागते हैं जो इस संसार की मोहमाया में लिप्त हैं। लेकिन पंडित मरण ज्ञानियों का होता है, जिन्होंने संसार के स्वरूप को समझ लिया है, हर्ष, विषाद, जीवन, मरण में माध्यस्थभाव से रमण करते हुए आत्म-विकास के लिए तत्पर हैं।

मरण को कला बनाने के लिए जैनधर्म में जीवन के प्रारम्भ से ही अभ्यास करने का संकेत किया है कि मृत्यु कभी भी आ सकती है, दिन में भी और रात में सोते समय भी। अतः कम से कम व्यक्ति को रात में सोते समय समस्त संकल्प-विकल्पों को तजकर सागारी त्याग-प्रत्याख्यान पूर्वक सोना चाहिये। प्रतिरात्रि इस प्रकार का संथारा करने से समाधिमरण की कला का ज्ञान हो जाता है और अकस्मात् सोते समय मरण हो जाने पर भी जगत की मोहमाया से अलिप्त रहकर परभव में एक नए उज्ज्वल जीवन का प्रारम्भ करता है और कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है जब कि जीवन और मरण के चक्र को सदैव के लिए निर्मूल कर मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

समाधिमरण का साधक सब प्रकार से मोह-ममता का त्याग करके आत्मध्यान में समय व्यतीत करता है। फिर भी उसे निम्नलिखित पांच दोषों से बचने के लिए सतर्क किया गया है—

१. इहलोकाशंसा, २. परलोकाशंसा, ३. जीविताशंसा, ४. मरणाशंसा, ५. कामभोगाशंसा। आशंसा का अर्थ है इच्छा, आकांक्षा, शंका रखना।

मृत्युकला का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इस कला की उपासना श्रमण और श्रावक दोनों को करना चाहिए।

जैन आचार-संहिता का यहाँ संक्षेप में विवेचन किया गया है। यथाशक्ति जो भी व्यक्ति अपनी पात्रता के अनुसार आचरण करेगा वह इस जन्म में सुखी बनेगा और परजन्म में अपने सुकृत का उपभोग करते हुए स्वरमणता रूप स्थिति को प्राप्त करेगा।



आचार्यप्रवचन अभिरुचि आचार्यप्रवचन अभिरुचि
श्रीआनन्दरौ अन्धदुर्ग श्रीआनन्दरौ अन्धदुर्ग

